15.3

क्रमांक .....
दिनांक .....

श्री भजनाश्रम
श्री नर्मदांचल
अमरकन्टक, जिला–शहडोल
मध्यप्रदेश

प्रति,

श्री / श्रीमती . . . . . .
. . . . . .
. . . . . .

विषय :– मानवीय राष्ट्रीयता का प्रारूप ।

महोदय,

मानवीय राष्ट्रीयता का यह प्रस्ताव अभ्युदय (सर्वतोमुखी विकास) के सन्दर्भ में है जिसका प्रत्यक्ष रूप समाधान, समृद्धि, अभय एवं सहअस्तित्व का उन्नयन होना है । अस्तु यह आपकी स्वीकृति हेतु प्रस्तुत है ।

मानवीय राष्ट्रीयता के प्रारूप का आधारभूत मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद) विकास के क्रम में वास्तविकताओं के आधार पर निःसृत जीवन दर्शन है जिसमें द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के स्थान पर समाधानात्मक भौतिकवाद, संघर्षात्मक जनवाद के स्थान पर व्यवहारात्मक जनवाद, रहस्यात्मक अध्यात्मवाद के स्थान पर अनुभवात्मक अध्यात्मवाद स्पष्टतः सुजम हुआ है । इसी में सामाजिक (धार्मिक) आर्थिक राज्यनीति का विश्लेषण हुआ है । यह दर्शन चार भागों में हैं :–

१. मानव व्यवहार दर्शन
२. मानव कर्म दर्शन
३. मानव अभ्यास दर्शन
४. मानव अनुभव दर्शन

अस्तु इस प्रस्ताव के सन्दर्भ में आपके मन्तव्य को जानने की कामना सहित प्रेषित है ।

भवदीय

ए. नागराज शर्मा
अमरकन्टक

मानवीय राष्ट्रीयता का प्रारुप

विगत का अवलोकन

१. सुदूर विगत से आज पर्यन्त विभिन्न संस्कृतियां एवं सामाजिक व्यवस्थाएँ अपनी-अपनी भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर निर्मित हुई और मौलिक रुप में भौतिक एवं अधिभौतिक चिंतन पर आधारित रही हैं। इसी चिंतन के आधार पर उनकी धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक प्रणालियां निर्मित एवं विकसित हुई। वर्तमान में अपने समस्त साधनों से सम्पन्न होकर ये संस्कृतियां अथवा सामाजिक व्यवस्थाएँ परस्पर सम्पर्क में आई। परिणाम स्वरुप प्रत्येक संस्कृति एवं व्यवस्था की अपनी श्रेष्ठता एवं उपादेयता के प्रतिस्थापन – क्रम में पारस्परिक संघर्ष पूर्वक दलन, दमन एवं शोषण की कूटनीति को वर्तमान राजनीति का रुप समझा जा रहा है। यही अर्न्तद्वन्द्व अथवा अर्न्तविरोध भयंकर उथल-पुथल एवं तृतीय विश्वयुद्ध की संभावनाओं से गर्भित है।

२. युद्ध अथवा युद्ध की मानसिकता मानव विकास के लिये कभी भी सहायक सिद्ध नहीं हुई है। इससे जन–समूह भयाक्रांत होकर व्यक्ति केन्द्रित अथवा व्यक्तिपरक विचारों में सीमित साथ ही सामाजिकता के चिंतन से विमुख होता गया जबकि सामाजिकता ही निर्भयता अथवा निर्भयता ही सामाजिकता है।

३. अतीत में धर्मप्रधान एवं अर्थप्रधान राजनैतिक व्यवस्थाओं के प्रयोग अपनाये गये थे। धर्मप्रधान राजनीति के मूल में पाप-पुण्य तथा स्वर्ग-नरक के भय एवं प्रलोभन मुख्य तत्व रहे हैं। इसी प्रकार अर्थप्रधान राजनीति पूंजीवादी एवं साम्यवादी व्यवस्था प्रणाली से प्रभावशील हुई। इन दोनों के लक्ष्य वर्ग एवं अतिभोग अथवा बहुभोग ही रहे हैं।

४. इस प्रकार अतीत के भय और प्रलोभन के रहस्य पर आधारित धर्मप्रधान व्यवस्थायें न तो मानव को निर्भ्रम व निर्भ्रान्त बना सकी और न उसे समृद्धि, समाधान एवं सुख की निरन्तरता ही प्रदान कर सकी। अतिभोग एवं बहुभोग वाली अर्थ प्रधान व्यवस्थायें भी मानव को जीवन मूल्य एवं समाज मूल्य से समृद्धि नहीं बना सकी। फलतः सशंकता, भय, निराशा एवं कुण्ठा की अभिवृद्धि हुई।

भौतिकवादी व्यवस्था की असफलता

५-I अनेक सम्प्रदाय, वर्ग, जाति, मत आदि के आधार पर स्थापित समझौतावादी वर्ग भावना से सम्बद्ध समाज कहलाने वाली इकाईयां मानव के लिए समाधान, समृद्धि, अभय एवं सह – अस्तित्वपूर्ण सार्वभौमिक सामाजिकता राष्ट्रीयता को विकसित करने में समर्थ नहीं रहीं। फलस्वरुप प्रत्येक देश असमाधान, संशकता, भय एवं सह – अस्तित्व विहीनतावश दिग्भ्रमित होकर सम्पूर्ण मानव के विनाश हेतु शस्त्र भंडार या निर्माण करने के लिये हठ एवं होड़ सहित प्रयास रत है। वर्तमान में प्रधानतः युद्ध निपुणतापूर्ण युद्ध सामग्रियों के निर्माण एवं संग्रह करने में जो देश समृद्ध है उसी देश को मनुष्य ने विकसित देश कहा। क्या स्वविध्वंस क्षमता विकास की कसौटी मानी जा सकती है? क्या यह क्रूरता का द्योतक नहीं है? क्या क्रूरता अखंड सामाजिकता राष्ट्रीयता हो सकती है? क्या यह दानवीयता नहीं है? क्या दानवीयता ही विकास है? यह सब प्रश्न अपने आप उभर कर आते हैं। साथ यह बात भी स्मरण में आती है कि क्या राष्ट्र व राज्य के विकास एवं विकासशीलता की सम्पत्ति, सामग्री, उद्देश्य एवं आदर्श क्रूरता हो सकती है? यदि हां तब उसके साथ और दो तत्व हीनता एवं दीनता अवश्यंभावी हैं।

हीनता का तात्पर्य विश्वासघात से एवं दीनता का तात्पर्य अभाव एवं अक्षमता से है। यदि हीनता, दीनता एवं क्रूरता राज्य एवं राष्ट्र की मानसिकता होती तो क्या सामाजिक व्यवस्था एवं उसके कार्यक्रम कभी सफल हो सकते हैं? इन तमाम प्रश्नों के उत्तर में प्रत्येक सामान्य व्यक्ति का उत्तर नकारात्मक ही होगा। ऐसी स्थिति में सामाजिकता का क्या आधार रहेगा ? मानव की मानसिकता ही उसके निर्माण का मूल आधार होती है। यदि किसी मानव या राष्ट्र की मानसिकता के मूल में छल, कपट, दम्भ, पाखंड, द्रोह–विद्रोह, वध – विध्वंस अथवा स्वयं के लिये अति भोग या बहुभोग रहा हो तो उस राष्ट्र या समाज का अंतिम परिणाम स्वयं या अन्य के लिये क्लेश श्रृंखला के अलावा और क्या हो सकता है ? यह सब भौतिकवादी अर्थप्रधान चिन्तन एवं व्यवस्था का अब तक का परिणाम रहा है।

५–II भौतिकवादी अथवा भोग–परक चिन्तन प्रकृति के विकास क्रम को मानते हुए गठनपूर्णता, क्रिया पूर्णता एवं आचरणपूर्णता अर्थात चैतन्य प्रकृति के सम्यक अध्ययन की मानसिकता निर्मित करने में समर्थ नहीं रहा है। जिसके फलस्वरुप समाज मूल्य एवं जीवन मुल्य का समुचित अध्ययन नहीं हो पाया है। इसी सत्यतावश मनुष्य को जड़ प्रकृति अर्थात् रासायनिक अथवा भौतिक परिणाम एवं परिवर्तन की सीमा में विश्लेषण करते हुए यांत्रिक जीवन के लिये बाध्य किया है। मनुष्य का स्वभाव से ही संवेदन एवं संज्ञानशील होने के कारण यंत्रवत जीवन तक सीमित रह सकना संभव नहीं हो रहा है और उस घुटन से बाहर निकलने के लिये छटपटा रहा है। साथ ही स्वस्थ दिशा व मार्ग के लिये प्रतीक्षारत है।

❖ अधि भौतिकवादी (धर्मप्रधान) व्यवस्था की असफलता–

५-III अधिभौतिकवादी धर्म प्रधान चिन्तन व व्यवस्था ने रहस्य पर आधारित पाप पुण्य, स्वर्ग नरक एवं मोक्षवादी प्रलोभन या भय की मानसिकता को निर्मित किया। साथ ही मोक्ष या निवृत्तिवादी मानसिकता के अतिरिक्त स्वर्ग व पुण्य के फल में भोग प्राप्ति का प्रलोभन अथवा उसके विपरीत में भोग के अभाव होने के साथ प्रताड़न-भय की मानसिकता का निर्मित किया। इतना ही न होकर अर्थात् उच्चांग स्थितियां अर्थात मोक्ष कैवल्य, सहज-अवस्था एवं साक्षात्कार के लिये भी रहस्य का आवरण बना ही रहा। इसी रहस्यमयता-वश अधिभौतिक या धर्म प्रधान व्यवस्था के अन्तर्गत निर्मित मानसिकता के अन्तर्गत आने वाले मानव समाज में आत्म निर्भरता के स्थान पर एक सर्वशक्तिमान रहस्यमय इकाई पर पराश्रित रहने की मानसिकता को तैयार किया। इसी पराश्रयी भावना या मानसिकता ने मानव को परम्परा का दास बनाया एवं इसके कारण पुरुषार्थ तथा स्वअस्तित्व के प्रति गौरवपूर्वक साहसिकता विकसित नहीं होने पाई। इस प्रकार अधिभौतिकवादी या धर्मप्रधान चिन्तन प्रकृति के विकासक्रम में मानव जीवन, जीवनी क्रम एवं जीवन के कार्यक्रम को विश्लेषण पूर्वक विकसित करने में समर्थ नहीं रहा है।

❖ विकल्प की आवश्यकता

५–IV इन ऐतिहासिक प्रयोगों एवं उनके परिणामों से स्पष्ट होता है कि धर्म एवं अर्थपरक चिन्तनों पर आधारित व्यवस्थायें मानव समाज पर प्रयोग के द्वारा व्यर्थ सिद्ध हो चुकी हैं। अस्तु विकल्प के रूप में एक स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था की अनिवार्यता की अनुभूति वर्तमान विश्व-समाज को हो रही है जिसमें समाधान, समृद्धि, अभय एवं सह-अस्तित्व सर्व सुलभ हो सके। ऐसी व्यवस्था मानवीयता पूर्ण सह अस्तित्ववादी चिंतन पर आधीरित होगी जिसके लिये जड़ व चैतन्य प्रकृति की क्रिया शीलता का अध्ययन एक अनिवार्य तथ्य है। क्योंकि मनुष्य जड़ व चैतन्य का संयुक्त साकार रुप है।

❖ चैतन्य प्रकृति की विशेषता :

६-I चैतन्य पद, प्रकृति के विकासक्रम में पाया जाने वाले एक तथ्य है। जड़ प्रकृति का परमाणु ही विकास पूर्वक अथवा गठनपूर्णता पूर्वक चैतन्य पद अथवा जीवन पद को पाता है। फलत: अमरत्व सिद्ध होता है। साथ ही अक्षय शक्ति सम्पन्न होता है। इस प्रकार जीवनता एकअनुस्यूत प्रक्रिया सिद्ध होती है। इससे स्पष्ट होता है कि जीवन नित्य जन्म-मृत्यु घटना मात्र है। इसी चैतन्य जीवनके क्रम में जीवन का समस्त कार्यक्रम समाया है। जीवन एवं जीवन के कार्य-क्रम के ज्ञापन, प्रकाशन, व्यवहार एवं संस्कार की प्रक्रिया ही संस्कृति या सभ्यता है। अस्तित्वपूर्वक जन्म द्वारा जीवन ही जीवात्मा एवं ज्ञानात्मा के पद या रुप में प्रकाशित है। जीवन की निरन्तरता जन्म घटना का मूल कारण है। जीवन के अभाव में जन्म का होना नहीं पाया जाता है। जीवन पद प्रतिष्ठा परमाणु में गठन पूर्णता से विकसित होती है। गठनपूर्णता का तात्पर्य परमाणु में समाने योग्य सभी अंशो के समा जाने से है यह घटना परमाणु के स्वभाव गति तथा वातावरण के दबाव व देय के योगफल में होती हैं। प्रत्येक इकाई के लिये स्वभाव गति प्रतिष्ठा में ही उसके विकास की संभावना अत्यंत,सन्निहित या उदित होती है। इसी क्रमिक विकास में जड़ चैतन्यात्मक प्रकृति प्रकट है। जड़ प्रकृति के परमाणु में प्रस्थापन, विस्थापन के साथ रुप और गुणो में परिवर्तन होता है जिसका परिमाणित होना पाया जाता है।

६-II इससे स्पष्ट होता है कि जड़ प्रकृति में मात्रात्मक परिवर्तन के साथ गुणात्मक परिवर्तन होता है जबकि चैतन्य प्रकृति में केवल गुणात्मक परिवर्तन का क्रम पाया जाता है जिसका परिमाण नहीं होता है जैसे- आशा, विचार एवं संकल्प में परिवर्तन के साथ कोई मात्रात्मक परिवर्तन नहीं होता है जो बच्चों से बड़ों तक में देखा जा सकता है। भ्रम का ज्ञान होने एवं उसका सुधार करने का ज्ञान व अधिकार गुणात्मक परिवर्तन है जो मानव के लिये एक सहज संभावना है। इसे मनुष्य के लिये सहज, सुलभ व सार्थक बनाने की दिशा में मनुष्य अध्ययन, अध्यापन, प्रयोग, संयोजन, योजन, संधान एवं अनुसंधान कार्य में रत है। इस क्रम में मनुष्य अस्तित्व प्रतिष्ठा से व्यवहार प्रतिष्ठा तक विधिवत अध्ययन करना चाहता है। विधिवत अध्ययन का तात्पर्य वस्तु स्थिति, वस्तुगत एवं स्थित सत्य में निर्भ्रमता के रूप में स्पष्ट है।

६-३ वस्तुस्थिति सत्य-देश, काल एव दिशा के ज्ञान में चरितार्थ होता है।
६-४ वस्तुगत सत्य --- रूप, गुण, स्वभाव एवं धर्म के ज्ञान में होता है।
६-५ स्थिति सत्य -- सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति (अस्तित्व समग्र) के ज्ञान में होता है।

६-६ चैतन्य इकाई में आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति का प्रकाशन शरीर के द्वारा होता है जिसे प्रत्येक जीव शरीर के द्वारा आशा और मनुष्य शरीर के माध्यम से आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति को देखा जाता है। चैतन्य क्रिया अर्थात जीवन अक्षय शक्ति सम्पन्न होने के कारण उपभोग से अधिक उत्पादन करने में सक्षम है। इसी सक्षमतावश चैतन्य क्रिया या जीवन में आशा, विचार इच्छा, संकल्प एवं अनुभव शक्तियों का प्रकाशन कितना भी करें उससे चैतन्य क्रिया या जीवन में कोई छरण नहीं होता है। यह उसकी अक्षय शक्ति का प्रधान लक्षण है। चैतन्य इकाई या जीवन की अक्षय शक्ति सम्पन्नता के कारण जीवनीयता प्रतिष्ठित या प्रकाशित होती है। यही संवेदनशीलता तथा संज्ञानीयता है। इसी प्रतिष्ठावश वातावरणस्थ क्रिया व सत्यता के संकेत ग्रहण व प्रसारण की क्रिया होती है। इस प्रकार चैतन्य क्रिया ही जीवन है और अक्षयता ही इसकी प्रधान विशेषता है।

६-७ उपरोक्त विशेषतावश चैतन्य इकाई में गुणात्मक परिवर्तन के साथ मात्रात्मक परिवर्तन नहीं होता है। चैतन्य इकाई में गुणात्मक परिवर्तन के साथ यदि मात्रात्मक परिवर्तन होता तब प्रत्येक आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति के साथ मात्रात्मक एवं रूपात्मक परिवर्तन भी होता जबकि ऐसा नहीं होता है। इसके विपरीत विचारों के अनुरूप बिना किसी रूपात्मक या मात्रात्मक परिवर्तन के शरीर का संचालन होता रहता है। चैतन्य के सहयोग से जड़ शरीर जितनी शक्ति ग्रहण करता है उससे कहीं अधिक शक्ति को बहिर्गत करता है। चैतन्य क्रिया अथवा जीवन के अतिरिक्त स्थूल शरीर रासायनिक एवं भौतिक संरचना है। इसके सम्पूर्ण क्रियाकलाप यांत्रिक हैं। यांत्रिकता में जितनी शक्ति ग्रहण होती है उससे कम का प्रकरन होता है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य जड़ शरीर और चैतन्य क्रिया (जीवन) का संयुक्त साकार रुप है। मानव के संस्कार मात्र का जीवनगत होना अर्थात आशा, विचार, इच्छा, एवं संकल्प गत होना उसी के आनुषंगिक क्रान्तिकारिता (गुणात्मक विकास) एवं जनवादिता का होना एक वस्तुगत सत्य के रुप में पाया जाता है जिसके आधार पर विकास एवं ह्रास स्पष्ट होता है। मनुष्य का प्रकाशन अमानवीयता, मानवीयता और अतिमानवीयता वादी कार्य, व्यवहार, व्यवसाय, अध्ययन एवं व्यवस्था संबंधी प्रक्रियाओं के रुप में होता है। मनुष्य की स्वभाव गति मानवीय होने के कारण उसकी तुलना में ह्रास एवं विकास का निर्णय हो पाता है।

६-८ नियतिक्रम में विकास का अभाव नहीं है। यह प्रकृति में विविधता के रुप में दृष्टव्य है। यह विकास विविधता इस पृथ्वी पर चार स्थितियों में अर्थात पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था एवं ज्ञानावस्था में परिलक्षित होती है। यही वैविध्यता विकास क्रम प्रक्रिया एवं व्यवस्था को स्पष्ट करती है। इन सब का अध्ययन ही दार्शनिकता है।

७-१ दार्शनिकता मनुष्य की संवेदनशीलता एवं संज्ञानीयता का अध्ययन एवं प्रकाशन है। यह मनुष्य की अविभाज्यक्षमता है। दर्शनक्षता अस्तित्व में, अस्तित्व से एवं अस्तित्व के लिये समाधान एवं आनन्द के अर्थ में चरितार्थ होती है। अस्तित्व समग्र सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति है। प्रकृति का तात्पर्य रुपात्मक अस्तित्व से है। यही अनेक रुप में स्पष्ट है। अनेकरूपता अथवा वैविध्यता मूलतः अध्ययन का विषय है। अरुपात्मक अस्तित्व समान रुप में अर्थात सर्वत्र एक सा होना पाया जाता है। सम्पूर्ण गति एवं मात्रा रुपात्मक अस्तित्व की सीमा में दृष्टव्य है। सम्पूर्ण गति व मात्रा अरुपात्मक अस्तित्व में समाहित है। प्रकृति की वृहद से वृहद एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म इकाइयाँ गति व मात्रा रहित अस्तित्व में घिरी हुई हैं जो मध्यस्थ सत्ता, शून्य, ज्ञान, पूर्ण एवं परमात्मा आदि संज्ञा से अभिहित हैं। मूलतः रुपात्मक एवं अरुपात्मक अस्तित्व ही अस्तित्व समग्र है।

७-२ अस्तित्व स्वयं में कोई संख्या नहीं है। यह केवल अनंत एवं व्यापक है। कारण गुण एवं गणित से मनुष्य के द्वारा प्रत्येक स्थिति निर्णित होती है जबकि अस्तित्व के संबंध में उसकी विस्तार व्याप्ति सीमाएँ संख्या ग्राह्य न होने के कारण इसे केवल व्यापक एवं अनंत की संज्ञा दी गई है। अस्तित्व कैसा है ? यह स्पष्ट होता है। कितना है ? यह स्पष्ट नहीं होता। इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य में अस्तित्व सर्वस्व की आवश्यकता सिद्ध नहीं हो पाती है। फलतः उसके लिये प्रयास नहीं होता है साथ ही मनुष्य के लिये अनुभव से अधिक उदय होता है। अर्थात् अनुभव के आधार पर अधिक का अनुमान होता है। मनुष्य में, मनुष्य से एवं मनुष्य के लिये अनुभव ही प्रमाण परम है। प्रयोग व व्यवहार के मूल में भी अनुभव ही है।

८.-१ रुपात्मक अस्तित्व अनेक इकाइयों का समूह है। प्रत्येक इकाई का विभिन्न स्तरीय विकास अपेक्षाकृत अस्तित्व है। यही स्पष्टत: संख्या एवं संख्या का आधार है। विकास के क्रम में मनुष्य का अस्तित्व भी एक घटना है। प्रत्येक घटना में अपनी विशेषताएं होती हैं। इसी तारतम्य में मनुष्य में अपनी विशेषता के अनुसार अर्थात ज्ञानावस्था के विकास के अनुरुप पूर्णतया दर्शनक्षमता की संभावना है। इसी के आधार पर अर्थ का सदुपयोग एवं सुरक्षा का अधिकार मानव में, मानव से, एवं मानव के लिये सुरक्षित है। संभावनाओं को सफल बनाना ही अधिकार है।

९.-१ मानवीयता मनुष्य की स्वभावगति है। स्वभावगति में उसके गुणात्मक परिवर्तन का अधिकार व निरन्तरता स्पष्ट होती है। अग्रिम विकास तब तक होता रहता है जब तक मनुष्य इकाई को सत्ता में अनुभव न हो जाय। यही विकासपूर्णता है। यही समाधान एवं समाधान ही निरन्तरता है। स्वभावगति में हस्तक्षेप से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य उत्पन्न होता है, जो आवेशित गति है। आवेशित गति को सामान्य बनाने के लिये वातावरण का दबाव ही अनुशासन, सामान्य गति को बनाये रखना ही शासन एवं उसकी निरन्तरता ही प्रभुसत्ता अथवा प्रबुद्धतापूर्ण सत्ता है। यही निपूणता, कुशलता एवं पांडित्यपूर्ण संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था है। पांडित्य स्वयं में विधि है जिसके आधार पर नीति, कार्य पद्धति एवं विषय वस्तु का निर्धारण एवं निस्तरण होता है। न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य का ज्ञान ही पांडित्य है। पांडित्य मनुष्य के कार्य व्यवहार, आचरण, अभ्यास एवं विकास का मूल स्त्रोत एवं लक्ष्य है। कुशलता एवं निपुर्णता, शिष्टता एवं व्यवसाय के आधार एवं समृद्धि के लक्ष्य हैं। पांडित्य के अभाव में कुशलता एवं निपुणता की उपयोगिता का ध्रुवीकरण नहीं हो पाता है। निपुणता एवं कुशलता का अधिकार उपयोगिता एवं सुन्दरता मूल्य की सीमा में उपादेयी होता है। पांडित्य में जीवन मूल्य अथवा स्थापित मूल्यानुभव या प्रमाण क्षमता या अधिकार है। प्रमाणिकता स्वत: सुख, शांति, सन्तोष एवं आनन्द है। यही मन, वृति चित्त, बुद्धि एवं आत्मा के संबंध में निर्विषमता है। प्रमाणिकता मनुष्य का अधिकार परम है। मानवीयता पूर्ण पद्धति से आचरण व व्यवहार करने के लिये मनुष्य स्वतंत्र है। मनुष्य का मानवीयता पर स्वत्व होता है। स्वत्व, स्वतंत्रता एवं अधिकार का संयुक्त प्रकाशन संस्कृति, सभ्यता एवं राष्ट्रीयता है। जिसका विधि में चरितार्थ होना ही व जनवादिता एवं व्यवस्था में प्रभावशील होना ही क्रान्तिकारिता है। विकास की ओर जीवन की अबाधगति स्वत: क्रान्तिकारिता एवं जनवादिता तथा जन्म की अभयता स्वयं में जनवादिता एवं उत्पादनीयता है। यही राष्ट्रीयता की निरन्तरता है।

मानवीय राष्ट्रीयता का लक्ष्य

१०-१. बौद्धिक समाधान व्यक्ति में,

१०-२. बौद्धिक समाधान सहित भौतिक समृद्धि परिवार में,

१०-३. बौद्धिक समाधान भौतिक समृद्धि सहित अभय (मानव में निहित अमानवीयता के भय से मुक्ति) व्यवहार व व्यवस्था में, समाज एवं राष्ट्र में।

१०-४. बौद्धिक समाधान, भौतिक समृद्धि एवं अभयतापूर्ण सह-अस्तित्व मानव में, से, के, लिये

११ ✣ प्रक्रिया

११-१. जीवन-मूल्य की अपेक्षा में स्थापित मूल्य, शिष्ट मूल्य एवं व्यवसाय मूल्य पर आधारित व्यवस्था, शिक्षा, प्रकाशन, प्रदर्शन, प्रचार, आचरण, अनुसरण

१२ ✣ संभावना

१२-१. प्रत्येक व्यक्ति में नियमपूर्वक व्यवसाय, न्यायपूर्वक व्यवहार, समाधान पूर्वक विचार एवं सत्य में अनुभूत होने की संभावना समानत: है क्योंकि मनुष्य जन्म से न्याय का याचक, सही करने का आशावादी एवं सत्यवक्ता है। इसे सफल बनाने की दिशा में ही समाज, राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता की संभावना सिद्ध होती है। फलत: व्यक्ति में मानवीयता पूर्ण आचरण करने, परिवार में उसका सहयोगी बनने, समाज में उसका प्रोत्साहन करने, राष्ट्र में उसका संरक्षण एवं संवर्धन करने तथा अन्तर्राष्ट्र में उसके लिए अनुकूल परिस्थितियों के निर्माण एवं निर्वाह होने की स्पष्ट संभावना है जिसके चरितार्थ होने की स्थिति में ही यह विश्व राष्ट्रीयता या अखण्ड सामाजिकता है।

१३ ✣ विश्व राष्ट्रीयता या अखण्ड सामाजिकता

१३-१. विश्व राष्ट्रीयता या अखण्ड सामाजिकता उत्पादनीयता, जनवादिता एवं क्रान्तिकारिता (विकास-शीलता) का संयुक्त रुप है। ये तीनों अन्योन्याश्रित तत्व हैं। उत्पादन क्षमता जनवाद के लिये, जनवाद विकास (क्रान्ति) के लिये एवं क्रान्ति उत्पादन के लिये योगदायी तथ्य हैं। उत्पादन क्षमता, जनवाद एवं विकास का सम्मिलित रुप ही संस्कृति एवं सभ्यता है। यही सामाजिकता है।

१३-२. उत्पादन समृद्धि को, जनवाद न्याय सुलभता एवं अभयता को तथा क्रान्ति गुणात्मक परिवर्तन को सिद्ध करती है, जो प्रत्येक मनुष्य की आद्यन्त कामना है। क्रान्ति प्रत्येक मनुष्य के विकास के सन्दर्भ में, जनवाद सामाजिक आचरण के सन्दर्भ में, एवं उत्पादन मानव मात्र की समृद्धि के सन्दर्भ में स्पष्ट एवं चरितार्थ होता है।

१३-३. (क) उत्पादनीयता : निपुणता व कुशलतापूर्वक सही कार्य करने की क्षमता = उत्पादन में विपुलता = समृद्धि = अभय

१३-४. (ख) जनवादिता : न्याय प्रदायी एवं न्याय सुलभ क्षमता में पूर्णता = कुशलता एवं पांडित्य
= न्यायसुलभता
= प्रमाणिकता
= सतर्कता
= सह अस्तित्व
= अभय।

१३-५. (ग) क्रान्तिकारिता = मानवीयता से देव मानवीयता और दिव्य मानवीयता
= नित्य समाधान
= सजगता
= अभय

१३-६. उक्त तीनों तत्वों से परिपूर्ण होने की आशा, आकांक्षा एवं लक्ष्य को दृष्टि में रखकर मानव राष्ट्रीयता या अखण्ड सामाजिकता का अध्ययन एवं व्यवहार करता है, कर रहा है या करने के लिये बाध्य है। उक्त तीनों तथ्य मानवीयता में सफल, अमानवीयता (वर्ग या सम्प्रदाय) में असफल एवं अतिमानवीयता में परम सफल हैं। सफलता ही अखण्ड मानव समाज की निरन्तरता का प्रकाशन है।

१३-७. (१) अमानवीयता = वे मूल प्रवृतियां जो मानवे-तर प्राणियों में स्वाभाविक-रूप में पायी जाती है और अविकसित मनुष्यों में भी दृष्टिगोचर होती है। जैसे– अमानवीय दृष्टि = प्रियाप्रिय हिताहित और लाभालाभ से सीमित क्रियायें।
अमानवीय स्वभाव = हीनता, दीनता एवं क्रूरतापूर्वक व्यवहार।
अमानवीय विषय = आहार निद्रा भय एवं मैथुन तक सीमित आसक्तियाँ।

१३-८. (२) मानवीयता – वे प्रवृतियाँ जो मानव की विकसित चेतना के परिणाम स्वरुप केवल मानव में प्रकाशित होती है।
मानवीय दृष्टि:– न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य पूर्वक निर्णित प्रिय, हित एवं लाभात्मक दृष्टिकोण
मानवीय विषय:– पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकेषणात्मक वृत्तियाँ।
मानवीय स्वभाव:– धीरता, वीरता एवं उदारतापूर्वक कार्य व व्यवहार।

१३-९. (३) अतिमानवीयता:– विशिष्ट विकासपूर्ण प्रबुद्ध मानवों में परिलक्षित होने वाली वृत्तियां।
अतिमानवीय दृष्टि : धर्माधर्म, सत्यासत्यपूर्ण दृष्टिकोण।
अतिमानवीय स्वभाव : धीरता, उदारता, दया, कृपा, करूणापूर्ण कार्य व व्यवहार।
अतिमानवीय विषय : लोकेषणा एवं परमात्मक वृत्ति एवं निवृत्ति।
इस प्रकार अमानवीयता, मानवीयता एवं अतिमानवीयता का निर्धारण मनुष्य समग्र में पाई जाने वाली दृष्टि स्वभाव एवं विषयों में प्रवृत्ति वृत्ति एवं निवृत्ति के आधार पर स्पष्ट है।

१४. मनुष्य की परिभाषा मानवीयता की व्याख्या के अनुषांगिक मानवीय संस्कृति सभ्यता, मानव मूल्य एवं उसके संरक्षण योग्य विधि व व्यवस्था का अध्ययन ही मनुष्य की सामाजिकता के सन्दर्भ में अध्ययन का महत्वपूर्ण बिन्दु है।

आचार संहिता

❖ १५ मनुष्य की परिभाषा

१५-१. (क) मन के आकार को साकार करने वाली अर्थात सामान्य एवं महत्वाकांक्षी आवश्यकताओं की पूर्ति एवं शिष्टता के रुप में तथा मन: स्वस्थता अर्थात सुख, शांति, संतोष एवं आनन्द (समाधान) के आशावादी इकाई की मानव संज्ञा है न कि केवल भोगों आशावादी इकाई की।

१५-२. (ख) मानवीयता की व्याख्या – मनुष्य में पाये जाने वाले स्वभाव दृष्टि एवं विषयों में प्रवृति एवं निवृति का विश्लेषण मानवीयता की व्याख्या है।

१५-३. (ग) मानवीय संस्कृति – मानवीयता ही मानवीय संस्कृति का अविरत स्त्रोत् है। इसके आधार पर सामाजिकता में पूर्णता, व्यक्ति में मौलिकता एवं उसके मौलिक अधिकारों का विधि व व्यवस्था में संप्रभुता के असंदिग्ध रूप में होना मानवीय संस्कृति है न कि अमानवीयता वादी।

१५-४. (घ) मानवीय सभ्यता – मानवीयता पूर्ण सभ्यता का आचरण एवं व्यवहार नियम त्रय के रूप में विश्लेषित किया जाता है। नियम त्रय का तात्पर्य बौद्धिक, सामाजिक एवं प्राकृतिक अर्थात् मनुष्येत्तर प्रकृति के साथ किये जाने वाले कार्य व व्यवहार से है जिससे मूल्य त्रय की तारतम्यता स्पष्ट हो सके। यही व्यवस्था की मौलिकता है न कि आवेशित गति अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य जो अमानवीयता है।

१५-६. (च) मानव मूल्य – मानव मूल्य अर्थात् सुख, शान्ति, संतोष एवं आनंद स्थापित मूल्य, शिष्ट मूल्य एवं व्यवसाय मूल्य के रुप में है। यह सम्पूर्ण मूल्य समाज में स्थापित संबंधों के माध्यम से, उदगमित, नियोजित एवं प्रयोजित होती हैं न कि दल गत स्वार्थ में।

१५-७. (झ) स्थापित संबंध – माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन, गुरु-शिष्य, स्वामी-सेवक, पति-पत्नि, मित्र और मित्र न कि विकार सम्बन्ध।

१६. (ब) स्थापित मूल्य–

१६-१– कृतज्ञता न कि कृतघ्नता
१६-२– गौरव " " अपमान
१६-३– श्रद्धा " " तिरष्कार
१६-४– प्रेम " " द्वेष
१६-५– विश्वास " विरोध
१६-६– वात्सल्य " कटुता
१६-७– ममता " कठोरता
१६-८– सम्मान " उपेक्षा
१६-९– स्नेह " द्रोह

१७. (स) शिष्ट मूल्य–

१७-१– सौम्यता " दीनता
१७-२– सरलता " उदण्डता
१७-३– पूज्यता " जटिलता
१७-४– अनन्यता " अन्यता
१७-५– सौजन्यता " घृणा
१७-६– सहजता " धृष्टता
१७-७– उदारता " हीनता
१७-८– अरहस्यता " रहस्यता
१७-९– निष्ठा " अवहेलना

१८ (द) व्यवसाय मूल्य –

१८-१. उपयोगिता न कि संग्रह

१८-२. सुन्दरता न कि भोग

१८-३. उपयोगिता का अर्थ सामान्य आकांक्षा एवं महत्वाकांक्षा से संबंधित वस्तु व उपकरणों के उपयोग से है।

१८-४. सामान्य आकांक्षा में आहार, आवास एवं अलंकार संबंधी द्रव्य एवं वस्तुओं के प्रयोजन सम्मिलित हैं। महत्वाकांक्षा में दूरगमन, दूरश्रवण एवं दूरदर्शन संबंधी वस्तु व द्रव्यों का उपयोग सम्मिलित है।

१९-१. मानव मूल्यों की वहन परम्परा ही संस्कृति है जो आचरण में नियम-त्रय के रूप में सभ्यता है। सम्पूर्ण नियम सुख अर्थात समाधान, समृद्धि, अभय एवं सह अस्तित्व के लक्ष्य प्राप्ति के लिये है।

१९-२. नियम-त्रय – बौद्धिक, सामाजिक तथा प्राकृतिक कार्य व व्यवहार।

१९-३. बौद्धिक नियम – असंग्रह, स्नेह, विद्या, सरलता और अभय न कि संग्रह द्वेष, अविद्या, अभिमान व भय।

१९-४. सामाजिक नियम – स्व–धन, स्व–नारी, स्व–पुरूष, उदारता एवं दया न कि पर–धन, पर–नारी, एवं पर–पुरूष एवं पर पीड़ा।

१९-५. प्राकृतिक नियम – प्रत्येक भूमि में शीतोष्ण वर्षमान, उसी में निहित खनिज एवं वनस्पति के अनुपात के आधार पर निर्भर है। उसका संतुलन बनाये रखते हुए खनिज व वनस्पति का उपयोग करना साथ ही उसके उत्पादन में सहायक होना न कि अनानुपाती शोषण और उसके उत्पादन में बाधक होना।

१९-६. स्वधन :- प्रतिफल, पारितोष एवं पुरस्कार के रूप में प्राप्त धन, न कि हीनता, दीनता एवं क्रूरता से प्राप्त धन।

१९-७. स्वनारी स्वपुरुष – विवाह पूर्वक प्राप्त दाम्पत्य संबंध न कि कामावेश भोगापेक्षा से प्राप्त संबंध।

१९-८. दया :– पात्रता के अनुरूप वस्तु व अवसर प्रदान करना न कि परिवार वर्ग एवं दलगत स्वार्थ के लिये।

१९-९. उदारता:- प्राप्त सुविधाओं या धन को आवश्यकतानुसार स्व-संतोष के लिये अन्य को प्रदान करना न कि हीनता क्रूरता एवं बहुभोग के लिये।

१९-१०. अखण्ड सामाजिकता – स्वयम् में मानवीयता है जो प्रबुद्धता, प्रभुसत्ता है।

१९-११. प्रभुसत्ता – प्रबुद्धता पूर्ण व्यवहार सत्ता न कि वर्ग दलगत बल प्रयोग।

१९-१२. प्रबुद्धता – निपुणता, कुशलता एवं पांडित्य में पारंगत्व है न कि छल कपट दम्भ, पाखण्ड एवं शोषण

१९-१३. संप्रभुता – सम्यमता के अर्थ में प्रयोजित होने योग्य प्रबुद्धता है न कि अमानवीयता का।

१९-१४. संस्कार – पूर्णता के अर्थ में समूह के द्वारा की गई कृतियां न कि अनेकता के लिये।

१९-१५. मानवीय संस्कार– मानवीय स्वभाव वृति व द्रिष्टियों की क्रिया शीलता से उदित होता है। न कि अमानवीयता से।

१९-१६. नाम संस्कार– व्यक्ति के परिचय के उद्देश्य से है न कि जाति उद्देश्य से। जाति संस्कार मनुष्य जाति के रुप में है न कि सम्प्रदाय की दृष्टि से।

१९-१७. धर्म कर्म संस्कार-उत्पादन, सेवा, अर्थ का सदुपयोग एवं अभ्यास–उपासना के रुप में है न कि मत की दृष्टि से।

१९-१८. शिक्षा संस्कार–उत्पादन में स्वावलम्बनता एवं व्यवहार में सामाजिकता से समृद्ध होने के लिये है न कि बहुभोग, अतिभोग, वर्ग एवं दल, दलन, के शोषण के लिए।

१९-१९. दीक्षा संस्कार–देव–मानव व दिव्य मानवता की ओर गुणात्मक परिवर्तन के लिये है न कि सम्प्रदाय के रुप में।

१९-२०. अनुसंधान एवं अविष्कार– उत्पादन में सुगमता, विपुलता तथा व्यवहार में सह–अस्तित्व पूर्ण कार्य न कि मारक विध्वंसक वस्तुओं के निर्माण एवं असह–अस्तित्ववान कार्य।

१९-२१. आचरण– स्वधन, स्वनारी – स्वपुरुष एवं दया के रूप में है न कि परधन, परनारी, परपुरूष व परपीड़ा के रूप में।

१९-२२. व्यवहार– स्थापित मूल्यों के अनुभव सहित शिष्ट मूल्यों के प्रकाशन समेत एवं व्यवसाय मूल्य के अर्पण, समर्पण, उपभोग, उपयोग एवं वितरण के रुप में है न कि शोषण, अपहरण, स्तेय, बहुभोग एवं अतिभोग के रुप में।

१९-२३. वृत्तियां- पुजेषणा, वितेषणा, एवं लोकेषणा के रुप में न कि आहर, निन्द्रा, भय एवं मैथुन के रुप में।

१९-२४. संवेग– सयंमता, सौहार्द्रता, उदारता, विनम्रता एवं उत्साह पूर्ण स्पर्धा के रुप में न कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य के रुप में।

१९-२५. अध्ययन- कृतज्ञता सहित निष्ठा के रुप में न कि कृतघ्नता सहित निष्ठा विहीनता (अवहेलना) के रुप में।

१९-२६. वाणी- सत्य भाषण एवं प्रमाणिक वचनों के रुप में न कि असत्य वचन एवं अप्रमाणिक वचनों के रुप में।

१९-२७. अध्यापन- प्रमाणिकता (प्रयोग, व्यवहार एवं अनुभव) पूर्वक न कि अप्रमाणिकता पूर्वक।

१९-२८. साहित्य- मानवीय संस्कृति, सभ्यता, विधि व व्यवस्था की बोध सुलभता के लिये न कि रहस्य, भ्रम, भय, द्रोह, विद्रोह आतंक एवं अनिश्चितता के लिये।

१९-२९. समाज- सह-अस्तित्व के लिये न कि असह-अस्तित्व के लिये।

१९-३०. संस्कृति- मानवीयता तथा सतर्कता में पूर्णता के लिये न कि अमानवीयता सशंकता के लिये।

१९-३१. सभ्यता- स्थापित मूल्यों सहित शिष्ट मूल्य के प्रकाशन के लिये न कि मनुष्य की परस्परता में संघर्ष द्रोह के लिये।

१९-३२. विधि की चरितार्थता- मानवीयता के निर्णय पूर्ण आचार-संहिता में है न कि अमानवीयता एवं निषेध में।

१९-३३. व्यवस्था- विधि के अर्थ में नीति का निर्वाह एवं व्यवहार गति में निरतंरता न कि वर्ग, दलवादी क्रिया कलाप।

१९-३४. राष्ट्रीयता- मानव में मानव संस्कृति सभ्यता की निरंतरता उसके संरक्षण, संवर्धन योग्य विधि व्यवस्था की अक्षुणता न कि युद्ध शोषण आतंक एवं सशंकता।

१९-३५. आहार की उपयोगिता- शरीर पोषण एवं पुष्टि के लिये न कि शरीर शोषण एवं केवल भोग के लिये।

१९-३६. विहार की उपादेयता- हासोल्लास पूर्वक विवेक विज्ञान व धर्म-सफलता के लिये न कि अतिभोग एवं बहुभोग के उद्दीपन के लिये।

१९-३७. सम्बन्ध की स्थिति- पूर्णता एवं उसकी निरंतरता के अर्थ में त्रिमूल्यों के क्रम निर्वाह के लिये न कि केवल व्यवसाय मूल्य अथवा शोषण के लिये।

१९-३८. सम्पर्क- व्यवहार, व्यवसाय, मूल्यों की प्रयोजनियता के लिये न कि छल, कपट, दंभ एवं पाखंड के लिये।

१९-३९. व्यवसाय एवं उपलब्धि- आकांक्षा द्वय (महत्वाकांक्षा एवं सामान्याकांक्षा) संबंधी वस्तुओं के निर्माण के लिये न कि वंचना एवं प्रवंचना के लिये।

१९-४०. उत्पादन की प्रक्रिया- प्राकृतिक ऐश्वर्य पर उपयोगिता मूल्य व सुन्दरता मूल्य की स्थापना के लिये न कि वध-विध्वंसात्मक वस्तुओं के निर्माण के लिये।

१९-४१. विनिमय की पद्धति- प्रतिमूल्य का आदान प्रदान एवं आवर्तन के लिये न कि संग्रह शोषण करने के लिये।

१९-४२. स्वत्व की मौलिकता- मानवीयतापूर्ण दृष्टि, स्वभाव एवं विषयों में वृत्ति न कि अमानवीय दृष्टि स्वभाव एवं विषयों में प्रवृति।

१९-४३. समानता की निरंतरता- सामाजिकता में न कि असामाजिकता में।

१९-४४. स्वतंत्रता- स्वयं से तंत्रित मानवीयतापूर्ण व्यवहार, कार्य एवं व्यवसाय।

१९-४५. स्वतंत्रता का अधिकार- मानवीयतापूर्ण पद्धति का आचरण व्यवहार, आहार, विहार, उत्पादन, उपभोग, वितरण न कि अमानवीय कार्य व्यवहार।

१९-४६. अधिकार की मौलिकता- मानवीयता पूर्ण पद्धति से उत्पादन व्यवस्था व्यवहार करने की क्षमता योग्यता एवं पात्रता जो अर्जित (स्वभाव) गुणों के रूप में ज्ञातव्य है न कि आवेशित गुण (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य) में।

१९-४७. मानव में मौलिकता- प्रमाणिकता न कि अप्रमाणिकता।

१९-४८. मानव में प्रमाणिकता- प्रयोग, व्यवहार एवं अनुभव पूर्ण प्रकाशन न कि आडम्बर, कल्पना एवं शोषण।

१९-४९. मौलिक अधिकार- सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक समान अवसर न कि वर्ग एवं दल का अवसर।

१९-५०. मौलिकता का प्रकाशन- प्रयोग, व्यवहार एवं अनुभव न कि आडम्बर, कल्पना एवं शोषण।

१९-५१. दण्ड- विधि चेतना में निषेध चेतना को परिवर्तन करने की प्रक्रिया न कि केवल यंत्रणा।

१९-५२. निषेध- अमानवीयता पूर्ण आचरण व्यवहार उत्पादन उपभोग, वितरण, शिक्षा, प्रचार, प्रदर्शन, प्रकाशन एवं उसकी सहयोगी व्यवस्था।

१९-५३. नियंत्रण- बौद्धिक, सामूहिक एवं प्राकृतिक नियम।

१९-५४. सहवास- सह अस्तित्व के लिये न कि असहस्तित्व के लिये।

१९-५५. गीत संगीत की उपादेयता- पूर्णता के प्रबोधन के लिये न कि अतिभोग के उद्दीपन के लिये।

१९-५६. खेल का प्रयोजन- साहस, शौर्य एवं उज्जवलता के लिये न कि समय की अपव्ययता के लिये ।

१९-५७. संभाषन- पूर्णता के अर्थ में भाषण न कि अपूर्णता के अर्थ में ।

१९-५८. प्रशस्ति के आधार- अविष्कार, अनुसंधान, वीरता, उदारता, मानवीय गुणों की पराकाष्ठा के लिये न कि हीनता, दीनता एवं क्रूरता के लिये ।

१९-५९. पुरस्कार- अनुसंधान, अविष्कार, वीरता, विशेष कुशलता व निपुणता के लिये न कि भ्रम, भय, समस्या एवं रहस्यता आदि के लिये ।

१९-६०. परितोष- स्व संतोष प्रसन्नता और गौरवान्वित होने के लिये न कि स्वयं से संबंधित किसी कार्य और अतिभोग एवं बहुभोग के लिये ।

१९-६१. सम्मान की पात्रता- व्यक्तित्व सहित प्रतिभा, आचरण सहित ज्ञान, पौरूषता के लिये न कि हीनता एवं क्रूरता के लिये ।

१९-६२. पोषण का प्रयोजन- अधिकाधिक उत्पादन के साथ उदारता के रूप में न कि शोषण एवं क्रूरता के रूप में ।

-: मध्यस्थ दर्शन के मूल तत्व :-

२०-१. मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद) समाधानात्मक भौतिकवाद, व्यवहारात्मक जनवाद, अनुभवात्मक अध्यात्मवाद ।

२०-२. उद्घोष- जीने दो और जियो ।

२०-३. मंगल कामना- भूमि स्वर्गताम् यातु, मनुष्यो यातु देवताम्, धर्मो सफलताम् यातु, नित्यं यातु शुभोदयम् (भूमि स्वर्ग हो, मनुष्य देवता हो, धर्म सफल हो, नित्य मंगल हो ।)

२०-४. उपदेश- जाने हुए को मान लो, माने हुए को जान लो ।

२०-५. मान्यता- ज्ञान (सत्ता) में व्यापकता एवं प्रकृति का अनादित्व ।

२०-६. सिद्धांत- श्रम, गति, परिणाम ।

२०-७. स्थिति- स्थितिपूर्ण सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति की स्थितिशीलता ।

२०-८. प्रमाण- प्रयोग, व्यवहार, अनुभव । अनुभव ही प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष ही प्रमाण ।

२०-९. यथार्थ- ब्रह्म सत्य, जगत शाश्वत, ब्रह्म (सत्ता) व्यापक, आत्मा अनेक, ईश्वर एक, देवता अनेक, मानव जाति एक, कर्म अनेक, भूमि एक राष्ट्र अनेक, मानव धर्म एक, मत अनेक, जीवन नित्य, जन्म-मृत्यु एक घटना।

२०-१०. वास्तविकता- विकास क्रम में स्थित अभिव्यक्तियां।

२०-११. अनुसंधान- गठन-पूर्णता, क्रिया पूर्णता, आचरण-पूर्णता।

२०-१२. आधार- सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति।

२०-१३. प्रतिपादन- प्रकृति के विकास-क्रम में चैतन्य क्रिया एवं उसका जीवन, चैतन्य जीवन के विकास-क्रम में सामाजिकता एवं अनुभव क्षमता, सतर्कतापूर्ण मानवीयता एवं सामाजिकता, सतर्कता - सजगता सहित देव-मानवीयता, सजगतापूर्ण दिव्य-मानवीयता, गठनपूर्णता, क्रिया पूर्णता एवं आचरण पूर्णता।

२०-१४. सत्यता- १. संसार ही प्रकृति, प्रकृति ही नियति, नियति ही व्यवस्था, व्यवस्था ही विकास, विकास ही संसार है।

२. नियम ही न्याय, न्याय ही धर्म, धर्म ही सत्य, सत्य ही ईश्वर, ईश्वर ही आनन्द, आनन्द ही जीवन, जीवन ही नियम है।

३. मनुष्य ही कर्म करते समय स्वतंत्र एवं फल भोगते समय परतंत्र है।

२०-१५. मानव की शरण- "अखण्ड सामाजिकता" (सह-अस्तित्व)

२०-१६. मानव का शासन- मानवीयता

२०-१७. व्यक्ति में पूर्णता- क्रिया पूर्णता, आचरण पूर्णता,

२०-१८. परिवार में पूर्णता- मानवीयता, पूर्ण पद्धति से व्यवसाय एवं व्यवहार।

२०-१९. समाज में पूर्णता- अभयता, समृद्धि, बौद्धिक समाधान।

२०-२०. राष्ट्र में पूर्णता- कुशलता, निपुणता, पांडित्य।

२०-२१. अन्तर्राष्ट्र में पूर्णता- संस्कृति-सभ्यता, विधि-व्यवस्था की एकात्मकता।

२०-२२. मानव धर्म- सुख, शांति, संतोष एवं आनन्द।

२०-२३. धर्म नीति का आधार- तन, मन, धन, रूपी अर्थ की सदुपयोग हेतु व्यवस्था।

२०-२४. राज्यनीति का आधार- तन, मन, धन रूपी अर्थ की सुरक्षा हेतु व्यवस्था ।

२०-२५. अनुगमन- स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से कारण, कारण से महाकारण ।

२०-२६. जागृति का लक्षण- अमानवीयता से मानवीयता, मानवीयता से देव मानवीयता, देवमानवीयता से दिव्य मानवीयता ।

२०-२७. मांगल्य- जीवन मंगल, उदय मंगल, समाधान मंगल, जागृति मंगल, अनुभव मंगल ।

२०-२८. सर्व मांगल्य- मनुष्य के चारों आयाम (व्यवसाय, व्यवहार, विचार व अनुभूति); पांचो स्थितियां (व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्र) में निर्विषमता एवं एक सूत्रता ।

२०-२९. महामांगल्य- सत्यानुभूति - मुक्ति ।

२०-३०. उपलब्धि- सह अस्तित्व में स्थापित मूल्य की अनुभूति, शिष्ट मूल्य की अभिव्यक्ति, समाधान, समृति एवं व्यवसाय मूल्य का सदुपयोग ।

भूमि स्वर्ग हो !
मनुष्य देवता हो !
धर्म सफल हो !
नित्य मंगल हो !